J.J.A.(H.C.) 2024
Exam dt. 20/1/2025

SHIFT-1

All judicial systems, world-over, have barred the admission of hearsay evidence, because to act upon hearsay evidence is risky as it does not provide any medium or instrument like cross-examination to test the truthfulness, falsity or reliability of this type of evidence. Evidence in the nature of the statement of the deceased i.e. dying declaration made about the circumstances in which his death resulted also falls in the category of hearsay evidence. Hence, any such statement of the deceased as such remains irrelevant and inadmissible in evidence, but out of necessity a compulsion arises to meet a peculiar situation which has made this type of evidence, namely dying declaration, relevant and therefore admissible by creating an exception to the general rule against admissibility of hearsay evidence. Hence, if his statement about the circumstances in which his death occurred is not admitted in evidence during criminal trial, then the only evidence of crime would be lost and as a consequence, the offender would go scotfree and thus cause miscarriage of justice. It is derived from a belief or enunciation in its favour on the basis that the dying man's deep faith in his religion would not allow lies on his lips, while he is dying and when he knows that he is soon to meet his Maker, i.e., God. The earliest judicial pronouncement making dying declaration admissible in evidence inspite of its being in the nature of hear-say evidence is found in the case of King Versus William Woodcock, (J 789) 1 Leach, 500. Judge Eyre, Chief Baron laid down as under: -"The general principles on which this species of evidence is admitted, is that they are declarations made in extremity when the party is at the point of death and when every hope in this world is gone. When every motive to falsehood is silent and the mind is induced by the most powerful consideration to speak the truth, a situation so solemn, and so awful is considered by the law as creating obligation equal to that which is imposed by a positive oath administered in a Court of justice.

Padaes

J.J.A. (H.C.) 2024
Exam dt. 20/1/2025

SHIFT-2

It must be noted that the earlier Code of Criminal Procedure, 1898 did not contain any provision regarding the pre-arrest bail, also known as anticipatory bail. It is only in 1973 that the Anticipatory Bail became part of the Cr.P.C, on the recommendation of the Forty First Law Commission Report. The Commission underlined the necessity of introducing a new section concerning pre-arrest bail and recommended for the inclusion of such provision. It was observed that many cases are instigated against a person just because of political motivation or personal vendetta. They lack enough evidence and are meant to harass a person by getting him arrested. As arbitrary arrests (often leading to harassment and humiliation of citizens) continue to be a pervasive phenomenon in the country, therefore, protection should be given to the people. This was the underlying reason for the enactment of Section 438 in the CrPC. Thus, the provision of anticipatory bail was included to protect the arbitrary violation of the right to personal liberty of an individual so that no person can be confined or detained in any manner unless he has been held guilty. Further, it was observed that when there are reasonable grounds for believing that a person accused of an offence is not likely to abscond or misuse his liberty while on Bail, then there is no need to first submit him to custody, make him/her remain in prison and then apply for Bail. In such cases, Bail could be granted earlier. The confusion relating to the provision of anticipatory bail started and increased when different courts expressed different and contradictory views regarding its scope as to whether the same could be time bound or not. The grant of anticipatory bail should not be limited by time. Also, the court has wide discretion to impose appropriate conditions on a case to case basis. The Supreme Court in the case of Siddharam Satlingappa Mhetre Versus State Of Maharashtra rejected the notion that anticipatory bail could be for a limited time and opined that there can be no time limit as to the life of an anticipatory bail.

Kadam

J.J.A.(H.C.)-2024
Exam dt. 20/1/2025

SHIFT-01

मध्यप्रदेश लोक न्यास अधिनियम, 1951 की धारा 2(4) में लोक न्यास को परिभाषित किया गया है, जिसके अंतर्गत धार्मिक अथवा परमार्थ मंदिर, मठ, मस्जिद एवं चर्च आदि को भी लोक न्यास में शामिल माना गया है। मध्यप्रदेश लोक न्यास अधिनियम, 1951 की धारा 32 के अनुसार ऐसा लोक न्यास, जो कि उक्त अधिनियम के अंतर्गत पंजीकृत न हो, उसके अधिकार को प्रवृत्त कराने के लिए कोई भी वाद किसी न्यायालय द्वारा निर्णीत नहीं किया जा सकता है। उक्त धारा के अंतर्गत वाद के संस्थापन पर रोक नहीं है, अपितु जब तक न्यास का पंजीयन न हो, तब तक वाद की कार्यवाही को रोका जाना प्रावधानित है। प्रस्तुत वाद वादी द्वारा, जो कि एक लोक न्यास है, प्रतिवादी के विरुद्ध स्वयं के अधिकार को प्रवृत्त कराने के लिए अर्थात् उससे वादी मठ की संपत्ति को खाली कराने के लिए लाया गया था। इस प्रकार उक्त वाद मठ की संपत्ति के संबंध में मौजूद अधिकार को प्रवृत्त कराने के लिए लाया गया था, जो कि धारा 32 मध्यप्रदेश लोक न्यास अधिनियम, 1951 से बाधित था। न्याय निर्णयन रानी बाई अग्रवाल एवं अन्य बनाम बलदेव राज एवं अन्य 1977 में माननीय मध्यप्रदेश उच्च न्यायालय द्वारा मध्यप्रदेश लोक न्यास अधिनियम, 1951 की धारा 32 के प्रकाश में लोक न्यास का पंजीयन कराए बिना वाद को सुने जाने एवं निराकृत किए जाने का अधिकार न्यायालय को न होने संबंधी अभिमत दिया गया है। मध्यप्रदेश लोक न्यास अधिनियम, 1951 की धारा 32 एवं राजस्थान लोक न्यास अधिनियम, 1959 की धारा 29 पूर्णतः एक समान प्रावधान हैं, जो कि लोक न्यास का पंजीयन कराए बिना वाद को सुने जाने को एवं उसे निराकृत किए जाने को निर्बंधित करते हैं और इस प्रकार विचारण न्यायालय को बिना लोक न्यास का पंजीयन हुए उपरोक्त दावे को सुने जाने एवं निराकृत किए जाने का कोई अधिकार ही नहीं था।

Dadan

J.J.A.(H.C.) 2024
Examdt. 20/1/2025

SHIFT-2

एक जमाव जो आरंभ में विधि अनुकूल हो, अपने सदस्यों के पश्चातवर्ती कार्य द्वारा विधि विरूद्ध जमाव में परिवर्तित हो सकता है। धारा 141 भारतीय दण्ड संहिता के साथ संलग्न स्पष्टीकरण में यह उपबंध है कि "कोई जमाव जो इकट्ठा होते समय विधि विरूद्ध नहीं था, बाद में विधि विरूद्ध जमाव हो सकेगा।" अतः महत्वपूर्ण यह है कि क्या आपराधिक कृत्य के समय पांच या अधिक व्यक्ति धारा 141 भारतीय दण्ड संहिता में यथा उल्लेखित उद्देश्य के लिए एकत्रित थे। सामान्य आशय की तरह सामान्य उद्देश्य को भी प्रमाणित करने के लिए प्रत्यक्ष साक्ष्य प्रस्तुत किया जाना अत्यंत कठिन है। अतः इस संबंध में कोई निष्कर्ष प्रत्येक मामले की सुसंगत परिस्थितियों के आधार पर उद्भूत होता है। संयुक्त विचारण में कुछ अभियुक्तों के संबंध में साक्ष्य विश्वसनीय न होने से अथवा उनकी अनन्यता स्थापित न होने के कारण दोषमुक्त हो जाने से यदि अभियुक्तगण की संख्या पांच से कम हो जाती है तब भी धारा 149 भारतीय दण्ड संहिता के आधार पर आन्वयिक उत्तरदायित्व हेतु दोषिता सुनिश्चित करने में वैधानिक बाधा नहीं है, यदि साक्ष्य से यह युक्तियुक्त संदेह से परे स्थापित हो कि कुछ अन्य व्यक्ति, नामित या अनामित, सामान्य उद्देश्य के अग्रसरण में विधि विरूद्ध जमाव के सदस्य थे। इसके अतिरिक्त धारा 34 भारतीय दण्ड संहिता का उपबंध साक्ष्य का एक नियम है। अतः यदि ऐसे मामलों में प्रमाणित तथ्यों से यह स्थापित होता है कि आपराधिक कृत्य सामान्य आशय के अग्रसरण में किया गया था तो अभियुक्तगण को धारा 34 के प्रभाव से आन्वयिक उत्तरदायित्व के आधार पर दोषसिद्ध किया जा सकता है तथा तद्आधार पर धारा 149 भारतीय दण्ड संहिता के स्थान पर धारा 34 के प्रभाव से दोषसिद्धि को परिवर्तित भी किया जा सकता है, परन्तु ऐसे निष्कर्षों पर पहुंचने के लिये अभियुक्त की प्रतिरक्षा पर प्रतिकूल प्रभाव के तथ्य पर विचार अवश्यमेव अपेक्षित है।

Hadas